विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
आयुर्वेद के ज्ञाता और उनकी उपचार पद्धति
डॉ. अविनाश यादव

पृष्ठ क्र. 3-4
संस्कृत साहित्य में पर्यावरण और प्रकृति
रितु मिश्र

पृष्ठ क्र. 5-6
अमरकोश में वर्णित वैज्ञानिक शब्दावलीविधि
डॉ. मुकेश कुमार शाह

पृष्ठ क्र. 7
द्वीपान्तर के संस्कृत शिलालेख
देवेन्द्र नाथ ठाकुर

पृष्ठ क्र. 8
अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण का महत्वपूर्ण ग्रंथ
मिथिलेश यादव

आयुर्वेद के ज्ञाता और उनकी उपचार पद्धति

डॉ. अविनाश यादव

चरक मत के अनुसार, आयुर्वेद का ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्मा से प्रजापति ने, प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने, उनसे इन्द्र ने और इन्द्र से भरद्वाज ने प्राप्त किया। च्यवन ऋषि का कार्यकाल भी अश्विनी कुमारों का समकालीन माना गया है। आयुर्वेद के विकास में ऋषि च्यवन का अतिमहत्वपूर्ण योगदान है। फिर भारद्वाज ने आयुर्वेद के प्रभाव से दीर्घ सुखी और आरोग्य जीवन प्राप्त कर अन्य ऋषियों में उसका प्रचार किया। तदनन्तर पुनर्वसु आत्रेय ने अग्निवेश, भेल, जतू, पाराशर, हारीत और क्षारपाणि नामक छः शिष्यों को आयुर्वेद का उपदेश दिया। इन छः शिष्यों में सबसे अधिक बुद्धिमान अग्निवेश ने सर्वप्रथम एक संहिता का निर्माण किया। अग्निवेश तंत्र जिसका प्रतिसंस्कार बाद में चरक ने किया और उसका नाम चरकसंहिता पड़ा, जो आयुर्वेद का आधार स्तंभ है।

सुश्रुत के अनुसार काशीराज दिवोदास के रूप में अवतरित भगवान धन्वन्तरि के पास अन्य महर्षियों के साथ सुश्रुत जब आयुर्वेद का अध्ययन करने गये और उनसे आवेदन किया। उस समय धन्वन्तरि ने उन लोगों को उपदेश देते हुए कहा कि सर्वप्रथम स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि उत्पादन पूर्व ही अथर्ववेद के उपवेद आयुर्वेद को एक सहस्र अध्याय– शत सहस्र श्लोकों में प्रकाशित किया और पुनः मनुष्य को अल्पमेधावी समझकर इसे आठ अंगों में विभक्त कर दिया। इस प्रकार धन्वन्तरि ने भी आयुर्वेद का प्रकाशन ब्रह्मदेव द्वारा ही प्रतिपादित किया हुआ माना है। पुनः भगवान धन्वन्तरि ने कहा कि ब्रह्मा से दक्ष प्रजापति, उनसे अश्विनीकुमार द्वय तथा उनसे इन्द्र ने आयुर्वेद का अध्ययन किया। चरक संहिता के रचयिता महर्षि चरक, महर्षि आत्रेय, महामेघा, अग्निवेश तथा दृढबल रहे हैं मगर महर्षि चरक का नाम विशेष रूप से प्रतिष्ठित हो गया। ये संहिताकार ऋषि एक उच्च कोटि के वैज्ञानिक थे। महर्षि चरक ने वनस्पतिजन्य विभिन्न दवाओं के निर्माण एवं उन्हें लिपिवद्ध करने के अतिरिक्त उनका घूम–घूमकर प्रचार–प्रसार भी किया। इसी कल्याणकारी विचरण क्रिया से उनका नाम चरक विश्व प्रसिद्ध हो गया। चरक संहिता के अध्ययन से पूरी जीवन शैली आहार चर्या ऋतु चर्या, रात्रि चर्या आदि का सम्यक ज्ञान हो जाता है तथा तदनुसार यदि व्यक्ति अनुसारण करे तो वह सदा निरोग रह सकता है। यह काल गुप्त वंश के शासन काल का रहा है। आचार्य सुश्रुत प्राचीन काल के एक उच्च कोटि के आयुर्वेदाचार्य एवं शल्य चिकित्सक थे। सुश्रत महर्षि विश्वामित्र के पुत्र थे तथा इन्होंने धन्वन्तरि से शल्य–शास्त्र की शिक्षा ग्रहण की थी। ऐसा विश्वास है कि पृथ्वी पर शल्य तन्त्र के जनक यही सुश्रुत है। इन्होंने भी एक ग्रन्थ की रचना की जिसका शीर्षक 'सुश्रुत संहिता' रखा। इस पुस्तक में पाँच अध्याय हैं जिनमें सूत्र स्थान, निदान स्थान, शरीर स्थान, चिकित्सा स्थान तथा कल्प स्थान आदि शामिल है। सुश्रुत के अनुसार मन एवं शरीर को पीड़ित करने वाली वस्तु को 'शल्य' कहा जाता है तथा इस शल्य को निकालने के साधन 'यंत्र' कहलाते है। आयार्य सुश्रुत ने अपने इस ग्रंथ में सौ से भी अधिक शल्य यंत्रों का वर्णन किया है तथा उनके गुणों के विषय में विस्तार से प्रकाश डाला है। आचार्य सुश्रुत आँखों के मोतियाबिन्द की शल्य क्रिया के विशेषज्ञ थे। गर्भस्थ शिशु को शल्य क्रिया द्वारा माता के गर्भ से सुरक्षित निकालने की कई विधियों सुश्रुत अच्छी तरह जानते थे। आजकल जिन यंत्रों का उपयोग शल्य क्रिया में होता है उनमें से अधिकांश यंत्रों का वर्णन सुश्रुत संहिता में मिलता है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा जाता है। आयुर्वेद तथा शल्य–चिकित्सा शास्त्र के आचार्य गणों का जगत पर महान उपकार है। आयुर्वेद में जिन तीन आचार्यों की गणना मुख्य रूप से होती है उनमें चरक, सुश्रुत के बाद वाग्भट का नाम आता है। इन्होंने अष्टांग हृदय ग्रन्थ की रचना की। इनका कालखण्ड छठी सदी का माना जाता है। यह पूरा

ग्रन्थ सूत्र स्थान, शरीर स्थान, निदान स्थान, चिकित्सा स्थान, कल्प स्थान तथा उत्तर स्थान आदि में विभक्त है। यह ग्रन्थ आयुर्वेद का सार माना जाता है। आचार्य वाग्भट का कहना है कि इस ग्रन्थ में कोई कपोल कल्पित बात नहीं कही गयी है बल्कि यह ग्रन्थ पूर्वाचार्यों के अभिमतों तथा अनुभव के आधार पर किया गया है। इस ग्रन्थ के पठन–पाठन, मनन एवं प्रयोग करने से निश्चय ही दीर्घ जीवन आरोग्य धर्म, अर्थ, सुख तथा यश की प्राप्ति होती है। आचार्य माधव ने एक विशिष्ट ग्रन्थ का लेखन किया जिसका नाम 'रोग विनिश्चय' रखा। यह ग्रन्थ माधव निदान के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य माधव ने रोग ज्ञान के पाँच साधन बताये है। निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय तथा सम्प्राप्ति। आचार्य माधव का समय छठी सदी के अन्त का बताया जाता है। आचार्य माधव ने अतिसार, पाण्डुरोग, क्षय रोग आदि का विस्तृत वर्णन किया है। आचार्य शार्ङ्गधर को नाड़ी शास्त्र का विशेषज्ञ माना गया है। इन्होंने दो ग्रन्थों 'शार्ङ्गधर संहिता' तथा 'शार्ङ्गधर पद्धति' की रचना की। आचार्य हाथ में कच्चे धागे के सूत्र के एक सिरे को बाँधकर दूसरे सिरे को पकड़कर नाड़ी गति का ज्ञान करके रोग एवं रोगों के सम्बन्ध में सब कुछ सत्य–सत्य बना देते थे। आयुर्वेद की आचार्य परम्परा में श्री भावमिश्र का नाम भी विशेष महत्व रखता है। इन्होंने भाव प्रकाश ग्रन्थ की रचना की। इनका कालखण्ड सोलहवीं सदी का माना गया है। इन्होंने समस्त व्याधियों को दो भागों में विभक्त किया। कर्मज अर्थात् जो दुष्कर्म के परिणाम स्वरूप फलित होती है तथा भोगध्रायश्चित से उनका विनाश होता है। इसके विपरीत दूसरे प्रकार की दोषज व्याधियाँ हैं जो मिथ्या आहार–विहार करने से कुपित हुए वात, पित्त एवं कफ से होती है। सोलहवीं शताब्दी में आंध्रप्रदेश के आचार्य बल्लभाचार्य द्वारा तेलुगू लिपि में लिखी गयी पुस्तक वैद्यचिन्तामणि का आयुर्वेद में विशिष्ट स्थान है। यह ग्रन्थ छब्बीस भागों में विभक्त है। मंगलाचारण के बाद पञ्च निदान के साथ–साथ अष्ट स्थान परीक्षा का विवरण है जिसमें पहले नाड़ी परीक्षा है। नाड़ी का जितना विस्तार से वर्णन यहाँ मिलता है उतना अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ में शायद नहीं मिलता। हाथ के साथ–साथ पाँव के मूल नाड़ी परीक्षा, स्त्रियों के बायें तथा पुरूषों के दाँये हाथ की नाड़ी परीक्षा का विधान बताया गया है। प्रत्येक रोग की चिकित्सा के लिए चूर्ण, काषाय, वटी, अवलेह, घृत, तेल, अर्जन तथा धूम (धुँआ) का उल्लेख है। ग्रन्थ के तेइस भागों में विभिन्न प्रकार के रोगों को वर्णन है व क्षय रोग के उपचार का विस्तृत उल्लेख मिलता है। वैद्य लोलिम्बराज का समय सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का माना गया है। इन्होंने 'वैद्य जीवन' नामक शास्त्र की रचना की। लोलिम्बराज कवित्व सम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने वैद्य–जीवन को पाँच भागों में विभक्त किया। इसमें ज्वर, ज्वरातिसार, ग्रहणी, कास–श्वास, आमवात, कामला, स्तन्यदुष्टि, प्रदर, क्षय, व्रण, अम्लपित्त, प्रमेह आदि रोगों तथा वाजीकरण और विविध रसायनों का उल्लेख है। वैद्य लोलिम्बराज रोगी के लिए पथ्य सेवन अतिहितकर बताते हुए कहते हैं कि रोगी यदि पथ्य सेवन से रहे तो उसे औषध सेवन से क्या प्रयोजन। वेद प्राचीन काल से ही मानव–सभ्यता के प्रकाश–स्तम्भ रहे हैं। वेद की परम्परा में रुद्र को प्रथम वैद्य स्वीकार किया गया है। 'यजुर्वेद' में कहा गया है कि 'प्रथमो दैव्यों भिषक' तथा इसी प्रकार ऋग्वेद में भी उल्लिखित है कि 'भिषक्तमं त्वां भिषजां शृणोमि' और आयुर्वेद ग्रन्थों की परम्परा में ब्रह्मा आयुर्वेद का प्रथम उपदेष्टा है। वेदों में अश्विनों और रुद्रदेवता के अतिरिक्त अग्नि, वरुण, इन्द्र, अप् तथा मरुत् को भी 'भिषक्' शब्द से अभिनिहित किया गया है। परन्तु मुख्य रूप से इस शब्द का सम्बन्ध रुद्र और अश्विनौ के साथ ही है। अतः वेद आयुर्वेदशास्त्र के लिए एक महत्वपूर्ण संकेतक तथा स्रोत हैं। आयुर्वेद के महत्वपूर्ण तथ्यों का वर्णन ऋग्वेद में उपलब्ध है। ऋग्वेद में आयुर्वेद का उद्देश्य, वैद्य के गुण–कर्म, विविध औषधियों के लाभ तथा शरीर के अंग और अग्निचिकित्सा, जलचिकित्सा, सूर्यचिकित्सा, शल्यचिकित्सा, विषचिकित्सा, वशीकरण आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। ऋग्वेद में पैसठ औषधियों का उल्लेख मिलता हैं। अतः आयुर्वेद की दृष्टि से ऋग्वेद बहुत उपयोगी है। यजुर्वेद में आयुर्वेद से सम्बन्धित निम्नांकित विषयों का वर्णन प्राप्त होता हैः विभिन्न औषधियों के नाम, शरीर के विभिन्न अंग, वैद्यक गुण–कर्म चिकित्सा, नीरोगता, तेज वर्चस् आदि। इसमें बयासी औषधियों का उल्लेख दिया गया है। आयुर्वेद के अध्ययन के रूप में सामवेद का योगदान कम है। इसमें मुख्यतया आयुर्वेद से सम्बन्धित कुछ मन्त्रा में वैद्य, तथा अत्यल्प रोगों की चिकित्सा का वर्णन प्राप्त होता है।

आयुर्वेद की दृष्टि से अथर्ववेद का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें आयुर्वेद के प्रायः सभी अंगों एवं उपांगों का विस्तृत विवरण मिलता है। अथर्ववेद ही आयुर्वेद का मूल आधार है। अथर्ववेद में आयुर्वेद से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का वर्णन उपलब्ध है जिनमें से मुख्य है– 'वैद्य के गुण, कर्म या भिषज, भैषज्य, दीर्घायुष्य, बाजीकरण, रोगनाशक विभिन्न मणियां, प्राणचिकित्सा, शल्यचिकित्सा, वशीकरण, जलचिकित्सा, सूर्यचिकित्सा तथा विविध औषधियों के नाम, गुण, कर्म आदि।

संस्कृत साहित्य में पर्यावरण और प्रकृति

रितु मिश्र

संस्कृत और वैदिक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि वह जीवन और जीवन के विज्ञान से जुड़ा हुआ है। चारों वेदों में प्रकृति पूजा और उपासना का सबसे बड़ा ध्येय यही था कि हम प्रकृति का महत्व समझें उसका सम्मान करें। वेदों में जब अग्नि को जल का पुत्र 'अपां गभर्रू' कहा गया तो दुनिया को समझ नहीं आया किंतु जब नदियों में बड़े बड़े बाँध बना कर प्रचुर बिजली निर्माण होने लगा तब विश्वास हुआ कि जल में भी अग्नि है। यजुर्वेद में जब यह कहा जाता है कि यज्ञ आरोग्य प्रदान करता है तब विचार जरूर करना चाहिए

और अनुसंधान करना चाहिए कि यज्ञ की ऐसी कौन–कौन सी विशेषताएँ हैं जो जीवन को स्वस्थ रखती हैं। वैदिक ऋषियों ने उन समस्त उपकारक तत्वों को देव कहकर उनके महत्व को प्रतिपादित तो किया ही है, साथ ही मनुष्य के जीवन में उनके पर्यावरणीय महत्व को भी भली–भाँति स्वीकार किया है। इन देवताओं के लिए मनुष्य का जीवन ऋणी हो गया और शास्त्रीय कल्पनाओं ने मनुष्य को पितृऋण और ऋषिऋण के साथ–साथ देवऋण से भी उन्मुक्त होने की ओर संकेत किया है। वह अपने कर्तव्य में देवऋण से मुक्त होने के लिए भी कर्तव्य करें। ऋषियों ने उसके लिए यह मर्यादा स्थापित की है। पर्यावरण को संतुलित रखने के लिए जिन देवताओं की महत्वपूर्ण भूमिका है उनमें सूर्य, वायु, वरुण (जल) एवं अग्नि देवताओं से रक्षा की कामना की गई है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में दिव्य, पार्थिव और जलीय देवों से कल्याण की कामना स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। भारतीय संस्कृति में पर्यावरण चिन्तन की अवधारणा उतना ही प्राचीन है जितना मानव का अस्तित्व। ऋषि–मुनियों ने प्राकृत सत्ता में सभी प्राणियों को स्वीकार किया है और वैदिक काल से ही स्वस्थ्य रहने के लिए मानव देवों से प्रार्थना करता आया है। पर्यावरण–सन्तुलन से तात्पर्य है जीवों के आस–पास की समस्त जैविक एवं अजैविक परिस्थितियों के बीच पूर्ण सामंजस्य। इस सामंजस्य का महत्व वेदों में विस्तारपूर्वक वर्णित है। कल्याणकारी संकल्पना, शुद्ध आचरण, निर्मल वाणी एवं सुनिश्चित गति क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की मूल विशेषताएँ मानी जाती हैं और पर्यावरण–सन्तुलन भी मुख्यतः इन्हीं गुणों पर समाश्रित है। पर्यावरण के संतुलन में वृक्षों के महान् योगदान एवं भूमिका को स्वीकार करते हुए मुनियों ने बृहत् चिंतन किया है। संस्कृत पुराण में उनके महत्व एवं महात्म्य को स्वीकार करते हुए कहा गया है कि दस कुओं के बराबर एक बावड़ी होती है, दस बावड़ियों के बराबर एक तालाब, दस तालाबों के बराबर एक पुत्र है और दस पुत्रों के बराबर एक वृक्ष होता है–

दश कूप समा वापी, दशवापी समोहद्रः।
दशह्रद समः पुत्रो, दशपुत्रो समो द्रुमः।।

जैन एवं बौद्ध आदि संस्कृत साहित्य में प्रकृति प्रेम और उसका संरक्षण महत्वपूर्ण है। भूमि को प्रदूषण से बचाने के लिए हरियाली को बढ़ाने की ओर संकेत किया गया है। नदियाँ प्रदूषण रहित हों, ऐसी उदात्त कामना की गई है। जल और वायु शुद्धि के लिए वनौषधि और यज्ञ को उपयुक्त माना है। शब्द की तारता, तीव्रता अथवा मंदता का प्रभाव पर्यावरण पर पड़ता है। संतुलित प्रयोग एवं मौन साधना तथा वाणी के संयम से किसी भी प्रकार की तीव्र ध्वनि का विस्तार रोका जा सकता है। अध्यात्म का परिपालन, भाषा और संस्कृति की सुरक्षा और तृष्णा पर अंकुश लगाकर ही पर्यावरण को बचाया जा सकता है। वैदिक साहित्य में प्राकृतिक पदार्थों से कल्याण की कामना को स्वस्ति कहा गया है, जिसका आचार्य सायण "अविनाशं क्षेमं–सुरक्षित क्षेम" अर्थ किया है। इस नैरुक्त चिंतन है। अलब्धस्य लाभो योगः, प्राप्तस्य संरक्षणं क्षेमः अर्थात अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति योग है तथा प्राप्त का संरक्षण क्षेम। अतः सहज सुलभ प्राकृतिक पदार्थों का सुरक्षित रहना ही स्वस्ति है।

महाभारत एवं रामायण में वृक्षों के प्रति मनोरम कल्पना की गई हैं (भीष्म पर्व में) – सर्वकाम फलाः वृक्षाः। वृक्ष का महत्व वैदिक साहित्य में बताया गया और वायु को शुद्ध करने में सहायक माना गया है। वैज्ञानिक पक्ष भी इसे स्वीकर करते हैं। अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त पृथ्वी सूक्त है जिसके कुल 63 मन्त्र हैं। इस सूक्त को पृथिवी सूक्त, भूमि सूक्त तथा मातृ सूक्त भी कहा जाता है। इस सूक्त में पृथ्वी के समस्त चर–अचर के प्रति ऋषि की चिन्तना मुखरित हुई है। पृथ्वी सूक्त में प्रकृति और पर्यावरण के सम्बंध में अद्वितीय ज्ञान है। पृथ्वी के पर्यावरण, जीव जगत, चर अचर के संबंधों की जो वैज्ञानिकता

इन मंत्रों में मुखरित हुई है वो आज अपने रचनाकाल के समय से ज्यादा प्रासंगिक प्रतीत होती है। पृथ्वी सूक्त राष्ट्रीय अवधारणा तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को विकसित, पोषित एवं फलित करने के लिए अत्यन्त उपयोगी सूक्त है। इन मन्त्रों के माध्यम से ऋषि ने पृथ्वी के आदिभौतिक और आदिदैविक दोनों रूपों का स्तवन किया है। यहाँ सम्पूर्ण पृथ्वी ही माता के रूप में ऋषि को दृष्टिगोचर हुई है, अतः माता की इस महामहिमा को हृदयांगम करके उससे उत्तम वर के लिए प्रार्थना की है। यह सूक्त अथर्ववेद में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है, इस सूक्त में पृथ्वी के स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता, मातृभूमि के प्रति प्रगाढ़ भक्ति पर विशद् विवेचन किया गया है। पृथ्वी सूक्त के मन्त्रदृष्टा ऋषि अथर्वा हैं। (गोपथ ब्राह्मण के अनुसार अथर्वन् का शाब्दिक अर्थ गतिहीन या स्थिर है।) 'पृथ्वी हमारी माता है और हम इसके पुत्र हैं' (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः)। भूमि के प्रति पग पग पर कृतज्ञता व्यक्त की गयी है। पृथ्वी सूक्त में कहा गया है, देवता जिस भूमि की रक्षा उपासना करते हैं वह मातृभूमि हमें मधु सम्पन्न करे। इस पृथ्वी का हृदय परम आकाश के अमृत से सम्बन्धित रहता है। वह भूमि हमारे राष्ट्र में तेज बल बढ़ाये। सूर्य और चन्द्र से इस पृथिवी का मानो मापन हो रहा है।

मापन से यहाँ यह अभिप्राय है कि पूर्व से पश्चिम की ओर जाते हुए सूर्य व चन्द्र मानो पृथिवी को माप ही रहे हैं। इन सूर्य–चन्द्र के द्वारा सर्वव्यापक प्रभु पृथिवी पर विविध वनस्पतियों को जन्म दे रहे हैं। पर्यावरण का सीधा व सरल अर्थ है प्रकृति का आवरण। कहा गया है कि 'परितः आवृणोति'। प्राणी जगत को चारों ओर से ढकने वाला प्रकृति तत्व, जिनका हम प्रत्यक्षतः एवं अप्रत्यक्षतः, जाने या अनजाने उपभोग करते हैं तथा जिनसे हमारी भौतिक, आत्मिक एवं मानसिक चेतना प्रवाहित एवं प्रभावित होती है, वही पर्यावरण है। यह पर्यावरण भौतिक, जैविक एवं सांस्कृतिक तीन प्रकार का कहा गया है। स्थलीय, जलीय, मृदा, खनिज आदि भौतिक पौधे, जन्तु, सूक्ष्मजीव व मानव आदि जैविक एवं आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सांस्कृतिक तत्वों की परस्पर क्रियाशीलता से समग्र पर्यावरण की रचना व परिवर्तनशीलता निर्धारित होती है। प्रकृति के पंचमहाभूत–क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा– भौतिक एवं जैविक पर्यावरण का निर्माण करते हैं। वेदों में मूलतः इन पंचमहाभूतों को ही दैवीय शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। मानव कृत संस्कृति का निर्माण मानव मन, बुद्धि एवं अहं से होता है। इसीलिए गीता में भगवान कृष्ण ने प्रकृति के पाँच तत्वों के स्थान पर आठ तत्वों का उल्लेख किया है। संस्कृत साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पर्यावरण की रक्षा के लिए मनुष्य का सहयोग आवश्यक है। पर्यावरण के महत्व को सामाजिक, आर्थिक साहित्यिक एवं वैज्ञानिक स्तरों पर स्वीकारा गया है। प्राचीन ऋषियों ने वृक्षों में देवत्व को स्थापित कर, जनमानस से जोड़ने का अद्भुत कार्य किया है। कवि कालिदास ने अपने काव्यों में पर्यावरण को स्थान दिया, जिसे भारतीय अवधारणा की मानदण्ड कह सकते हैं। उनके साहित्य में प्राचीन ऋषियों के भाँति पर्यावरण संरक्षण की संकल्पना को आधुनिक पर्यावरण समस्या के समाधान में उपर्युक्त और प्रासंगिक प्रतीत होती है। कालिदास ने शिव की अष्टमूर्तियों के माध्यम से विश्व पर्यावरण के समस्त अजैविक–जैविक कारको का काव्यों में स्थान दिया, जिसे भारतीय अवधारणा की मानदण्ड कह सकते हैं। उनके साहित्य में प्राचीन ऋषियों के भाँति पर्यावरण संरक्षण की संकल्पना को आधुनिक पर्यावरण समस्या के समाधान में उपर्युक्त और प्रासंगिक प्रतीत होती है। भारतीय साहित्य में प्रकृति से जुड़े प्रत्येक तत्वों का बड़ी सूक्ष्मता और सुंदरता के साथ वर्णित करते हुए, उसे देवतुल्य मानकर उसकी उपासना की गई है। यहाँ पंच महाभूत अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश के साथ ग्रह–नक्षत्र, नदियाँ, तालाबों, पर्वत, पेड़–पौधों, जीव–जंतुओं सभी में ईश्वरीय सत्ता को स्वीकारते हुए उनके प्रति आदर–सम्मान की भावना परिलक्षित होती है। भारतीय परंपराओं में पर्यावरण अभिन्न अंग रहा है। प्रत्येक परम्पराओं के पीछे एक वैज्ञानिक तथ्य जुड़ा है।

मेघदूतम् में कालिदास ने अपने प्रकृति व पर्यावरण के प्रायः सभी घटकों को प्रस्तुत किया है। अग्नि, वायु, जल, आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चंद्रमा, औषधि एवं वनस्पति आदि सब शिवस्वरूप हैं अर्थात् कल्याण कारक है, इसका उपदेश किया है। प्रत्युपकार की इच्छा के बिना सदा ये हमारी सहायता करते हैं इसलिए देवतुल्य हैं। इसके अधिकांश पद्यों में पर्यावरणीय तत्वों को स्मरण किया है और सन्देश दिया है कि प्रकृति के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए। पूर्वमेघ में तो वाह्य प्रकृति का सुन्दरतम् स्वरूप चित्रित हुआ है। एक ओर जहाँ गन्धवती, गम्भीरा, चर्मण्वती, रेवा, जाह्नवी, मन्दाकिनी, यमुना, देवगंगा, सरस्वती जैसी नदियाँ हैं तो दूसरी ओर अलका, अवन्ती, विदिशा, कुरुक्षेत्र व उज्जयिनी उदात्त स्वरूपधारी नगर। कालिदास ने मूलतः मानवीय दृष्टिकोण से परिवेश का निरीक्षण किया है।

मेघदूतम् के प्रत्येक पद्य में अपने इसी निरीक्षण का सम्यक् निरूपण कर मानव और उसके परिवेश के पारस्परिक सम्बन्धों का काव्यमय विलास प्रस्तुत किया है। मानव और पर्यावरण के सम्बन्धों के विविध आयामों को दिखाया है। कालिदास की पर्यावरणीय दृष्टि का सर्वाधिक सूक्ष्म एवं प्रामाणिक परिचय मेघदूत में मिलता है। भारतवर्ष में पुरातन काल से पुराणों का महत्व सर्वविदित है। भारतीय संस्कृति, धर्म एवं वेदार्थ– तात्पर्य निर्णय में पुराणों का स्थान सर्वातिशायी रहा है। पुराण कर्म, उपासना, धर्म, अभ्युदय और निःश्रेयस् के वेद व्याख्यान ग्रन्थ हैं। शिव महापुराण शिव विषयक विश्व–कोश कहा जाता है। शिव पुराण कर्म–कला, संस्कार ज्ञान, पर्यावरण और भक्ति, वैराग्य योग आदि आर्य–संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्तों से ओतप्रोत है। इसमें सदाचार,अध्यात्म, श्रद्धा और विवेक का उज्ज्वल पक्ष आद्यन्त समाहित है। पुराणों में हमारी मनीषा, इतिहास, कला, संस्कृति, प्रकृति, समग्र चिन्तन और अभ्युदय का समावेश है।

अमरकोश में वर्णित वैज्ञानिक शब्दावली-निधि

डॉ. मुकेश कुमार शाह

मालवा की विज्ञान एवं तकनीकी के अन्तर्गत अमरसिंह का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उनका ग्रन्थ 'अमरकोश' वैज्ञानिक शब्दावलियों का भण्डार है, जिसके प्रत्येक काण्ड में कुछ तकनीकी शब्द मिलते हैं, जिन्हें विस्तारित कर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। अमरकोश के प्रथमकाण्ड के नाट्यवर्ग में उल्लेखित है कि निषाद, ऋषभ, गान्धार, शड्ज, मध्यम, धैवत तथा पंचम ये सात स्वर वीणा आदि के तार तथा प्राणियों के कण्ठ से निकले हुए भेद हैं। काकली मधुर ध्वनि को कहते हैं। कल अस्पष्ट मधुर ध्वनि, मन्द्रःगम्भीर ध्वनि, तारः अत्यन्त ऊँचे शब्द को कहा जाता है। एकताल अर्थात् गति और बाजाओं (साज) के एक लय को स्वर में मिलाने का नाम है। इन शब्दों से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य युग में संगीत कला पूर्णतया विकसित थी तथा विभिन्न वाद्यों का निर्माण हो चुका था। और उसमें स्वर, लय, मात्रा आदि का ध्यान रखा जाता था। अमरकोश में विभिन्न वाद्यों के प्रकारों तथा नामों का उल्लेख मिलता है। साथ ही उनके निर्माण के अप्रत्यक्ष संदर्भ भी मिलते हैं। अमरकोश में वीणा के लिए वीणा, वल्लकी, विपन्ची शब्द मिलते हैं। परिवादिनी शब्द का अर्थ सात तार वाली वीणा से है। ततम्, वीणा आदि वाद्यों के नाम हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि उस युग में वीणा न केवल बनाई जाती थी अपितु उसके वादन के लिए विभिन्न स्वरों के तारों का भी निर्माण किया जाता था। इसी प्रकार मुरज वाद्यों के लिए आनद्धम् शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ चमड़े से मढ़े गये वाद्य हैं। मृदंगः, अंकयः, आलिंगयः, ऊर्ध्वकः, मुरजः ये सभी मृदंग के भेद हैं। यशः, परहः, ढक्का–नगाड़ा को कहते थे। घनम्–घड़ी या घण्टा आदि वाद्यों के नाम थे। शुशिरम् वंशी का नाम है। भेरी आनकः, दुन्दुभिः भेरी नामक वाद्य का नाम है। कोण, वीणा, बेला, सारंगी या इसराज आदि वाद्यों को बजाने के लिए काठ की बनायी हुई धनुही का नाम है। कुकुभः तथा प्रसेवकः वीणा के नीचे वाले, चमड़ा आदि से ढके हुए भाण्ड के नाम हैं।

कोलम्बकः वीणा के ढाँचे को अर्थात् तारहित वीणा के दण्डादि समुदाय को कहते थे। उपनाह तथा निबन्धनम् अर्थात् जहाँ वीणा का तार बाँधा जाता है, उस स्थान को कहते थे। इस प्रकार विक्रमादित्य युग में वीणा कैसे बनाई जाती थी तथा वहाँ पर उसके तारों को कैसे बाँधा जाता था, उसकी विधि ज्ञात हो जाती है। अन्य वाद्यों में डमरु, मड्डु, डिण्डिम, झर्झर, मर्दल, पणवः आदि डमरु, मड्डु अर्थात् जलतरंग, डुगडुगी, झांझ, मर्दल, ढोल आदि वाद्यों के नाम हैं। इसी प्रकार नाचने के लिए ताण्डवम्, नटनम्, लास्यम्, नृत्यम्, नर्तनम्, शब्द प्रयुक्त हुआ है। नाचने वाली के लिए नर्तकी, लासिका शब्द प्रयुक्त हुआ है। तत्वम् शब्द विलम्ब से नाचने, गाने और बजाने के लिए, ओघ शब्द द्रुत गति से नाचने गाने तथा बजाने के लिए तथा धनम् शब्द–सामान्य समय से नाथने, गाने और बजाने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। ताल और लय शब्द का उल्लेख भी अमरकोश में हुआ है, जिसमें क्रमशः समय और क्रिया की कमी–पेशी का प्रमाण रहता है तथा गाने बजाने और हाथ, भरू आदि चलाकर भाव दिखलाने के लिए समय और क्रिया की कमी–पेशी का प्रमाण रहता है। 100 अन्य वैज्ञानिक अध्ययन के अन्तर्गत अमरकोश में सर्पों की विभिन्न श्रेणियों का वर्गीकरण यथा–नाग, काद्रयेव, शेष, अनन्त, वासुकि, इत्यादि सर्पों का नामोल्लेख है तथा गोनस, तिलित्स–पनस जाति के साँप या छोटे जाति के सर्प, अजगर (शयु, वाहस) अलगर्द, जलव्याल–डोंड साँप या पानी में रहने वाले साँप, राजिल तथ डुण्डभ–दोनों तरफ मुख वाले साँप, मालुधान तथा मातुलाहि–खट्वाकार चितकबरे साँप इत्यादि का उल्लेख मिलता हैं। साथ ही विष के विभिन्न नामों के साथ–साथ विष वैद्य का नाम भी मिलता है, जिसे जांगलिक कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि उस युग में न केवल विषधारी सर्पों सहित अन्य सर्पों की जातियों की पहचान थी, अपितु विष–चिकित्सा भी प्रचलित थी। जैसा कि कालिदास इत्यादि ने भी अपने ग्रन्थों में विष–चिकित्सा की चर्चा की है। अमरकोश के वारिवर्ग से भी अनेक वैज्ञानिक सूचनाएँ हमें मिलती हैं, जिसके अन्तर्गत जलनिर्गम, द्वीप, टापू किनारे तथा सबसे महत्वपूर्ण नाव तथा उसके विभिन्न प्रकारों का उल्लेख सहित अन्य विविध जानकारी मिलती है। अमरकोश में भ्रमः तथा जलनिर्गमः शब्द जल निकलने के मार्ग अथवा नदी आदि में निम्नस्थ जल के ऊपर निकलने को कहा गया है। पुलिनम् शब्द पानी से शीघ्र निकले हुए। किनारे को कहते हैं। नावों की चर्चा करते हुए इसके नौः, तरणिः, तरिः, शब्द आया है। इससे स्पष्ट होता है कि उस युग में नाव का प्रयोग होता था, जो कि पूर्ववर्ती युगों में भी प्रचलित थी। अमरकोश में छोटी नाव के लिए उड्डुपम्, प्लव, कोलः शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसका एक अर्थ तैरने के लिए घड़ा कनस्तर, तुम्बी आदि से बनाये गये साधन विशेष भी हो सकते हैं। द्रोणी, काष्ठाम्बुवाहिनी शब्द काठ (लकड़ी) की बनायी गयी छोटी नाव अर्थात् डोंगी के लिये प्रयुक्त हुआ है। सांयात्रिकः तथा पोतवणिक शब्द नाव या जहाज के व्यापारियों के लिए है। पतवार पकड़ने वालों को कर्णधार तथा नाविक कहा गया है। मगरमच्छ तथा मछली आदि जलीय जन्तुओं से जहाज की रक्षा के लिए जहाज के ऊँचे हिस्से पर बैठने वाले व्यक्ति को नियामकः तथा पोतवह कहा गया है। नाव या जहाज को जल में स्थिर करने के लिए मस्तूलों को कूपकः तथा गुणवृक्षक कहा गया है। नाव की पतवार को नौकादण्ड, क्षिपणी, अरित्रम् तथा केनिपातक कहा गया है। सेकपात्रम्, सेचनम् शब्द नाव, जहाज इत्यादि में एकत्र हुए पानी को फैंकने के लिए चमड़ा आदि के थैले या मशक को कहा जाता था। इस वर्णन से यह ज्ञात होता

है कि मालवा में नाव इत्यादि बनाने की कला विकसित थी तथा इसे बनाने की तकनीकी का ज्ञान भी हमारे यहाँ था। कालांतर में साँची के तोरण द्वारों पर अंकित दृश्यों में नाव और जहाज के प्रमाण भी इसे पुष्ट करते हैं। नावों के माध्यम से मत्स्य आखेट भी किया जाता है। इसमें प्रयुक्त जाल को आनायः तथा जाल कहते थे। सुतली के बने हुए जाल को शणसूत्रम् तथा पवित्रकम् कहा गया है। मछली को फँसाने के साधन–विशेष को बलिशम् तथा मत्स्यवेधनम् कहा गया है, जो कि लोहे का बना होता था। इस प्रकार नावों के माध्यम से विदेशी अथवा अन्तर्राज्यीय व्यापार तथा मत्स्यआखेट इत्यादि होता था। अमरकोश में जल–प्रबन्धन सम्बन्धी शब्दावलियाँ भी मिलती हैं, जिससे ज्ञात होता है कि उस युग में जल–संचय हेतु पर्याप्त उपाय किए गए थे जैसा कि पूर्ववर्ती युगों में भी प्रचलित था। अमरकोश में जलाशय, जलाधारः शब्द तालाब पोखर बावली (बावड़ी) इत्यादि के लिए प्रयुक्त होता था। ह्रदः शब्द अथाह जल वाले तालाब के लिए आहावः तथा निपानम् शब्द सुखपूर्वक गौ आदि के जल पीने के लिए कुए के पास बनाये हुए थे। अन्धु, प्रहिः, कूपः, दपानम् शब्द कुओं के लिए, बीनाहः शब्द कुएँ के जगत के लिए, अखातम्, देवखातम् शब्द अकृत्रिम या देवमन्दिर के आगे वाले पोखर या तालाब के लिए, पद्माकर तड़ाग शब्द कमल उत्पन्न होने के क्षेत्र तालाब आदि के लिए, कासार, सरसी, सरः शब्द कृत्रिम (किसी के द्वारा खुदवाये हुए) कमल के उत्पत्ति स्थान तालाब के लिए, वेशन्त, पल्वलम्, अल्पसर, शब्द पानी के छोटे–छोटे गड्ढे के नाम हैं, वापी, दीर्घिका शब्द बावली के लिए, खेयम्, परिखा शब्द किले आदि के चारों ओर की खाई के नाम हैं, आधारः शब्द पानी के बाँध का नाम है। आलवालम्, आवालम्, आवापः शब्द थाला अर्थात् गांछी या पौधे को सींचने के लिए उनकी जड़ में मिट्टी आदि से बनाये हुए घेरे का नाम है। इस प्रकार विक्रमादित्य युग के जलाशय, हद, आहाव, कुएँ, अखात, तड़ाग, वेशन्त, बावड़ी इत्यादि जल–संचय के प्रमुख साधन थे। इसके अतिरिक्त कुल्याएँ भी उस युग में होती थी जो कि कृत्रिम नदी अथवा नहर के रूप में सिंचाई के लिए प्रयुक्त होती थी। विक्रमादित्ययुग में किस प्रकार से मार्गों का निर्माण होता था अथवा सेतु और मार्ग बनाये जाते थे, तत्सम्बन्धी शब्दावलियाँ अमरकोश में प्राप्त होती हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि इस युग में विभिन्न प्रकार के कच्चे–पक्के मार्गों का निर्माण होता था। इसकी जानकारी हमें पूर्ववर्ती युगों में भी विभिन्न साहित्य तथा पुरातात्विक स्रोतों से मिलती है। बृहत्संहिता में भी इससे सम्बन्धित जानकारी मिलती है। अमरकोश में सेतुः तथा आलिः शब्द पुल के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अयनम्, वर्त्म, मार्ग, अध्वा, पन्थाः, पदवी, सृतिः, सरणिः, पद्धति, पद्या, वर्तनी तथा एकपदी शब्द मार्ग अथवा रास्ते के लिए प्रयुक्त हुए हैं तथा अच्छे मार्ग के लिए अतिपन्थाः, सुपन्थाः, सत्पथः शब्दों का उपयोग किया गया है। व्यध्व, दुरध्वः, विपथः, कदध्वा, कापथःशब्द खराब मार्ग के लिए होते थे। अपन्थाः, अपथम् शब्द मार्गाभाव के लिए, शृंगाटकम्, चतुश्पथम् शब्द चौरास्ते या चौक के लिए, प्रान्तरम् शब्द का अर्थ वह रास्ता जहाँ बहुत दूर तक छाया और पानी नहीं मिले। कान्तारम् शब्द चोर, कण्टक और झाड़ी इत्यादि से युक्त दुर्गम रास्ते के लिए, गव्यूतिः शब्द दो कोस लम्बे रास्ते या स्थान के लिए तथा नल्वः शब्द चार हजार हाथ लम्बे रास्ते या रस्सी के लिए, घण्टापथः तथा संसरणम् शब्द राजमार्ग के लिए प्रयुक्त होते थे। इस विवरण से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्ययुग में विभिन्न प्रकार के मार्गों का निर्माण किया जाता था। इसके अतिरिक्त गृह, नगर इत्यादि के निर्माण से सम्बन्धित जानकारी भी अमरकोश में मिलती है। तथा विभिन्न वर्गों के निवास के भिन्न–भिन्न स्थानों का उल्लेख भी मिलता है। अमरकोश में पुरी, नगरी, पत्तनम्, पटभेदनम्, स्थानीयम् तथा निगमः शब्द नगर के लिए प्रयुक्त हुआ है। शाखानगरम् शब्द मूलनगर अर्थात् राजधानी या महानगर के अतिरिक्त छोटे–छोटे नगरों के लिए, वेष, वेश्या जनसभाश्रयः शब्द वेश्याओं के वासस्थान के लिए, आपणः तथा निशद्या शब्द बाजार, हाट या ग्राहकों के खरीदने योग्य वस्तु रखने के स्थान के लिए, विपणिः तथा पण्यवीथिका शब्द दुकानों की पंक्ति या बाजार के रास्ते इत्यादि हेतु, रथ्या, प्रतोली, विशिखा शब्द गली हेतु, चयः, वप्रम् शब्द किले के चारों तरफ ऊँचे किये हुए मिट्टी के ढेर के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार बैठक स्थान या सभा भवन के लिए वासः, कुटी तथा शाला शब्द, चौतरफा घर वाले स्थान को संजवनम् तथा चतुःशालम्, यज्ञस्थान–विशेष को चौत्यम् तथा आयतनम् अस्तबल को वाजिशाला तथा मन्दुरा, कारीगरों के घर को आवेशनम् तथा शिल्पिशाला, प्याऊ को प्रपा तथा पानी यशालिका, विद्यार्थियों तथा संन्यासियों के निवास को मठ, मदिरागृह के लिए गंजा या मदिरागृहम् कहा गया है। झरोखे या खिड़की के लिए गवाक्ष तथा वातायन शब्द, अमीर वर्गों के लोगों के घरों को हर्म्य, राजा के निवास स्थान को प्रासाद, राजा के घर को सौधः तथा राजसदनम् कहा गया है। रनिवास के लिए अन्तःपुरम्, अवरोधनम् तथा शुद्धान्त शब्द, अटारी के लिए अट्टः तथा क्षोमम् शब्द, डेहरी या दरवाजे के नीचे वाला भाग को देहली तथा गृहावग्रहणी शब्द, दरवाजे के दोनों खम्भों के नीचे वाले काठ, लोहे या पत्थर को शिला, दरवाजे के दोनों खम्भों के ऊपर वाले काष्ठ, लोहे या पत्थर को नासा तथा मुख्य द्वार को पक्षद्वारम् या पक्षकः कहा गया है। नगर के बड़े फाटक को पुरद्वारम् या गोपुरम् तथा राजद्वार या नगरद्वार पर बनाई हुई ढालू जमीन को हस्तिमखः, सीढ़ियों को आरोहणम् या सोपानम् तथा काष्ठ की सीढ़ी को निश्रेणिः तथा अधिरोहिणी कहा गया है। उपर्युक्त विवरण से नगर, राजधानी, छोटे नगर, अन्य वर्गों के निवास स्थान, गली, दुकानों के रास्ते, खाई, दीवार इत्यादि की जानकारी मिलती है, जिससे तदयुगीन नगर–निर्माण का दर्शन होता है। वस्तुतः अमरकोश वैज्ञानिक राशियों की महत्वपूर्ण निधि है, इसमें उपर्युक्त वैज्ञानिक सूचनाओं के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के रोग तथा चिकित्सकों के वर्णन मनुष्य वर्ग नामक द्वितीय काण्ड में मिलते हैं।

द्वीपांतर के संस्कृत शिलालेख

देवेन्द्र नाथ ठाकुर

संस्कृत के प्राचीन अभिलेखों और ग्रंथों में इंडोनेशिया को द्वीपांतर भी कहा गया है। एशिया के दक्षिण–पूर्वी छोर पर अवस्थित इंडोनेशिया जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि अनेक छोटे–बड़े द्वीपों का समूह है जिसे प्राचीन काल में द्वीपांतर कहा जाता था। शिलालेखी साक्ष्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में भारतवंशियों ने इंडोनेशिया में सुसंगठित साम्राज्य की स्थापना कर ली थी। यद्यपि उनका अपनी मातृभूमि भारत से किसी प्रकार का संबंध था, इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है, तथापि उनकी सभ्यता, संस्कृति, भाषा एवं लिपि पूर्णतः भारतीय थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उन लोगों ने वहाँ के मूल निवासियों को भी भारतीय संस्कृति के साँचे में ढाल दिया था। शास्त्रीय प्रमाणों और मिथकों से उद्घाटित होता है कि तीसरी शताब्दी ई.पू. में भारत और इंडोनेशिया के निवासियों के बीच संबंध स्थापित हो गया था। इस संदर्भ में एक अन्य तथ्य उल्लेखनीय है। भारत के आदिवासी दक्षिण–पूर्व एशिया के मूल निवासी हैं, क्योंकि उनकी कद–काठी और भाषा आग्नेय परिवार की है। इसके अतिरिक्त समुद्र मंथन के मिथक का संबंध सामुद्रिक यात्रा से है।

भारत के पुरा इतिहास के अध्येताओं द्वारा इस दिशा में अन्वेषण करने पर कुछ नये तथ्य उद्घाटित हो सकते हैं। बोर्नियों और जावा के प्राचीन शिलालेखों से यह पता चलता है कि उनके संस्थापक क्षत्रिय थे जिन्होंने अपने शौर्य एवं पराक्रम से विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की थी। उनके अधीन अनेक छोटे–छोटे राजा थे जो उन्हें कर दिया करते थे। उन्हें जनकल्याणकारी कार्यों में अभिरुचि थी। उन्होंने कृषि के विकास हेतु नहरों का निर्माण करवाया था और व्यापार के उत्थान के लिए ज्योति स्तभों की स्थापना की थी। इंडोनेशिया के प्राचीन शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि समकालीन सम्राट वैदिक परंपरा के अनुयायी थे। बोर्नियो के यूप शिलालेख इसके सबल साक्षी हैं। इन शिलालेखों में ब्राह्मणों को अत्यधिक महत्व दिया गया है। राजा उनके जीवन–यापन के लिए प्रचुर दान देते थे। ब्राह्मण राजा के कल्याणार्थ यज्ञ करते थे। समय के बदलाव के साथ इंडोनेशिया में वैष्णव एवं शैव परंपरा का अभ्युदय हुआ। आठवीं शताब्दी में वहां शैवमत चरम उत्कर्ष पर था। चंगल (732 ई.) और परेंग (784–85 ई.) में उत्कीर्ण संस्कृत शिलालेखों से यह तथ्य उद्घाटित होता है।

चंगल शिलालेख में विष्णु और शिव की वंदना की भव्यता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में वहाँ के लोग दोनों परंपराओं से सुपरिचित थे। भारत में वैष्णव और शैव संप्रदायों में समन्वय की प्रवृत्ति मध्यकाल में दृष्टिगत होती है, किंतु जावा में यह प्रवृत्ति आठवीं शताब्दी में ही कई स्थलों पर दिखाई पड़ती है। चंगल शिलालेख में शिव के बाद विष्णु की स्तुति की गयी है। प्रम्बनान के शिवालय के अंदर रामकथा के शिलाचित्र हैं। दक्षिण–पूर्व एशिया में धार्मिक उदारता और समन्वय सर्वत्र परिव्याप्त है। थाईलैंड, कंबोडिया एवं लाओस के राजभवनों एवं बौद्ध विहारों की भित्तियों पर रामकथा के चित्र उकेरे गये हैं। वहाँ के राज दरबारों में रामलीला का मंचन होता है। जावा में शैव और वैष्णव मतों के प्रचार–प्रसार के साथ वहाँ की लोक परंपरा विलुप्त नहीं हुई। वहाँ के एक देवता का नाम भटार गुरू है। उनकी मूर्ति तुंदिल तथा मूछ–दाढ़ी से युक्त है। उनके हाथों में त्रिशूल, कलश, भाला और चवर है। इस मूर्ति को शिव का प्रतीक माना जाता है। भटार गुरु जावा में अत्यधिक लोकप्रिय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी स्थानीय देवता का ही विकसित रूप है। कुछ विद्वान भटार गुरु को अगस्त्य का प्रतीक मानते हैं। जावा में अगस्त्य पूजा की लोकप्रियता के अनेक शिलालेखी प्रमाण भी हैं।

इंडोनेशिया में बौद्ध धर्म का प्रवेश पाँचवी शताब्दी में हो गया था, किंतु उसके प्रचार–प्रसार में काफी समय लगा। चीनी यात्री फाहियान पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में ही जावा पहुँचा था। उस समय तक वहाँ ब्राह्मणों का वर्चस्व था और बौद्ध धर्म का विस्तार नहीं हो पाया था ऐसा अनुमान किया जाता है कि पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वहाँ बौद्ध धर्म का प्रसार आरंभ हुआ। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक श्री विजय बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण केंद्र बन गया।

चीनी यात्री इत्सिंग वहा सात वर्षों (688–95 ई.) तक रहा और संस्कृत अथवा पालि के मूल ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में करता रहा। दौत्य पाल के निर्माण में शैलेंद्र वंश के राजा बौद्ध धर्मावलंबी थे। उनके राजत्व काल में इंडोनेशिया में बौद्ध धर्म का अत्यधिक विकास हुआ। शैलेंद्रों का संबंध उत्तर भारत के पाल और दक्षिण के चोल राजाओं से था एवं चोल राजाओं ने उन्हें नालंदा और नागपट्टम में बौद्ध विहारों सहयोग किया था। शैलेंद्रवंशी सम्राट महान् निर्माता थे। जावा स्थित बोरबुदुर के विशाल स्तूप का निर्माण शैलेंद्रों ने ही करवाया था। यह स्तूप संसार का सबसे बड़ा प्राचीन स्तूप है। इसका निर्माण नौ मंजिलों में हुआ है। इसके गलियारों में बौद्ध जातकों के लगभग 1500 शिलाचित्र हैं। इसे पत्थरों में उत्कीर्ण महाकाव्य कहा जाता है। इंडोनेशिया में वैष्णव, शैव एवं बौद्ध मतावलंबियों में धार्मिक कट्टरता देखने को नहीं मिलती। ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्कीर्ण ऐर्लंग के शिलालेख के आरंभ में त्रिगुणमयी माता तथा त्रिविक्रम की स्तुति के उपरांत कल्पवृक्ष सदृश भगवान शिव की वंदना की गयी है। इसी शिलालेख के छठे श्लोक में कहा गया है कि तथागत के प्रति समर्पित राजा की निष्कलुष पुत्री राजकुमारी ईशान तुगविजय मानस की हंसिनी है।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण का महत्वपूर्ण ग्रंथ

अष्टाध्यायी (अष्टाध्यायी आठ अध्यायों वाली) महर्षि पाणिनि द्वारा रचित संस्कृत व्याकरण का एक अत्यंत प्राचीन ग्रंथ (700 ई.पू.) है। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पद हैं। प्रत्येक पद में 38 से 220 तक सूत्र हैं। इस प्रकार अष्टाध्यायी में आठ अध्याय, बत्तीस पद और सब मिलाकर लगभग 4000 सूत्र हैं। अष्टाध्यायी पर महामुनि कात्यायन का विस्तृत वार्तिक ग्रन्थ है और सूत्र तथा वार्तिकों पर भगवान पतंजलि का विशद विवरणात्मक ग्रन्थ महाभाष्य है। संक्षेप में सूत्र, वार्तिक एवं महाभाष्य तीनों सम्मिलित रूप में 'पाणिनीय व्याकरण' कहलाता है और सूत्रकार पाणिनी, वार्तिककार कात्यायन एवं भाष्यकार पतंजलि– तीनों व्याकरण के 'त्रिमुनि' कहलाते हैं। अष्टाध्यायी छह वेदांगों में मुख्य माना जाता है। अष्टाध्यायी में 3155 सूत्र और आरंभ में वर्णसमाम्नाय के 14 प्रत्याहार सूत्र हैं। अष्टाध्यायी का परिमाण एक सहस्र अनुष्टुप श्लोक के बराबर है। महाभाष्य में अष्टाध्यायी को 'सर्ववेद–परिषद्–शास्त्र' कहा गया है। अर्थात् अष्टाध्यायी का संबंध किसी वेद विशेष तक सीमित न होकर सभी वैदिक संहिताओं से था और सभी के प्रातिशरूय अभिमतों का पाणिनि ने समादर किया था। अष्टाध्यायी में अनेक पूर्वाचार्यों के मतों और सूत्रों का संनिवेश किया गया। उनमें से शाकटायन, शाकल्य, अभिशाली, गार्ग्य, गालव, भारद्वाज, कश्यप, शौनक, स्फोटायन, चाक्रवर्मण का उल्लेख पाणिनि ने किया है। अष्टाध्यायी के कर्ता पाणिनि कब हुए, इस विषय में कई मत हैं। भंडारकर और गोल्डस्टकर इनका समय 7वीं शताब्दी ई.पू. मानते हैं। मैकडानेल, कीथ आदि कितने ही विद्वानों ने इन्हें चौथी शताब्दी ई.पू. माना है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार पाणिनि नंदों के समकालीन थे और यह समय 5वीं शताब्दी ई.पू. होना चाहिए। पाणिनि में शतमान, विंशतिक और कार्षापण आदि जिन मुद्राओं का एक साथ उल्लेख है उनके आधार पर एवं अन्य कई कारणों से हमें पाणिनि का काल यही समीचीन जान पड़ता है।

अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पद हैं। पहले दूसरे अध्याय में संज्ञा और परिभाषा संबंधी सूत्र हैं एवं वाक्य में आए हुए क्रिया और संज्ञा शब्दों के पारस्परिक संबंध के नियामक प्रकरण भी हैं, जैसे क्रिया के लिए आत्मनेपद–परस्मैपद–प्रकरण एवं संज्ञाओं के लिए विभक्ति, समास आदि। तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायों में सब प्रकार के प्रत्ययों का विधान है। तीसरे अध्याय में धातुओं में प्रत्यय लगाकर कृदंत शब्दों का निर्वचन है और चौथे तथा पाँचवें अध्याय में संज्ञा शब्दों में प्रत्यय जोड़कर बने नए संज्ञा शब्दों का विस्तृत निर्वचन बताया गया है। ये प्रत्यय जिन अर्थ विषयों को प्रकट करते हैं

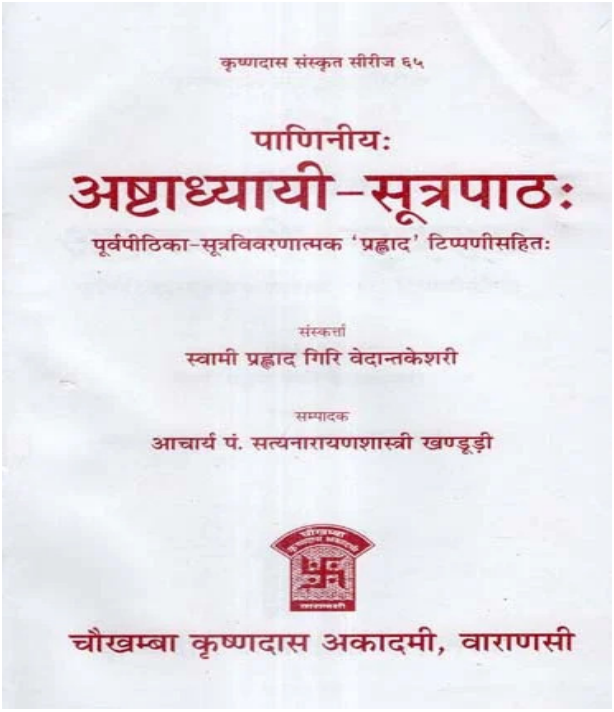

उन्हें व्याकरण की परिभाषा में वृत्ति कहते हैं, जैसे वर्षा में होने वाले इंद्रधनु को वार्षिक इंद्रधनु कहेंगे। वर्षा में होने वाले इस विशेष अर्थ को प्रकट करनेवाला 'इक' प्रत्यय तद्धित प्रत्यय है। तद्धित प्रकरण में 1,190 सूत्र हैं और कृदंत प्रकरण में 631। इस प्रकार कृदंत, तद्धित प्रत्ययों के विधान के लिए अष्टाध्यायी के 1,821 अर्थात् आधे से कुछ ही कम सूत्र विनियुक्त हुए हैं। छठे, सातवें और आठवें अध्यायों में उन परिवर्तनों का उल्लेख है जो शब्द के अक्षरों में होते हैं। ये परिवर्तन या तो मूल शब्द में जुड़नेवाले प्रत्ययों के कारण या संधि के कारण होते हैं। द्वित्व, संप्रसारण, संधि, स्वर, आगम, लोप, दीर्घ आदि के विधायक सूत्र छठे अध्याय में आए हैं। छठे अध्याय के चौथे पद से सातवें अध्याय के अंत तक अंगाधिकार नामक एक विशिष्ट प्रकरण है जिसमें उन परिवर्तनों का वर्णन है जो प्रत्यय के कारण मूल शब्दों में या मूल शब्द के कारण प्रत्यय में होते हैं। ये परिवर्तन भी दीर्घ, ह्स्व, लोप, आगम, आदेश, गुण, वृद्धि आदि के विधान के रूप में ही देखे जाते हैं। अष्टम् अध्याय में, वाक्यगत शब्दों के द्वित्वविधान, प्लुतविधान एवं षत्व और णत्वविधान का विशेषतः उपदेश है। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त उसी से संबंधित गणपाठ और धातुपाठ नामक दो प्रकरण भी निश्चित रूप से पाणिनि निर्मित थे।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com